Inspira- Journal of Modern Management & Entrepreneurship (JMME)
ISSN : 2231–167X, General Impact Factor : 2.7282, Volume 09, No. 01, January, 2019, pp. 236-240

ifMr nhu n;ky mikè;k; d fopkj n'ku e *vFk* dh voèkkj.kk

डॉ. विकास सिंह*

iLrkouk

आधुनिक विश्व उदारवाद, निजीकरण एवं वैश्वीकरण की नीति पर चलता हुआ अपने–अपने हिसाब से आर्थिक समृद्धि के पीछे द्रुतगति से भाग रहा है। प्राकृतिक संपत्ति के अनेक उपलब्ध स्त्रोतों का अंधाधुंध दोहन किया जा रहा है। उत्पादन के साधनों में वृद्धि के साथ–साथ हर राष्ट्र द्वारा अलग–अलग आय के स्त्रोत खोजे जा रहे हैं। नित नए–नए आयामों को ढूंढता हुआ हर राष्ट्र आज अत्यधिक उत्पादन एवं वितरण की प्रणाली पर अपनी–अपनी योजनाओं के माध्यम से नीतियों का कार्यान्वयन कर रहा है और विकास के पथ पर अग्रसर हो रहा है, परंतु उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि होने के बावजूद भी विश्व की आबादी का एक बड़ा तबका आज भी अभावग्रस्त जिंदगी जीने को मजबूर है। हरेक देश में यह समस्या कमोवेश बनी हुई है। यह न केवल बनी हुई है अपितु बढ़ती ही जा रही है और समस्याओं का दानव दिनोंदिन मुँह बाए अपना विस्तार करता जा रहा है। सुख और समृद्धि की तलाश में मानव भटकता हुआ आज एक ऐसी स्थिति में पहुंच गया कि उसको न तो निगलते बन रहा है और ना ही उगलते। गरीबी और अमीरी की खाई कैसे पाटी जाए और इस स्थिति से कैसे निकला जाए यह एक बहुत बड़ा प्रश्न है। आज विश्व का कोई भी देश ऐसा नहीं है जो भिन्न–भिन्न योजनाओं के माध्यम से अपने राष्ट्र का विकास न करता हो। पश्चिमी देशों ने पूंजीवाद, साम्यवाद और समाजवाद की प्रमुख विचारधाराओं को अपने–अपने हिसाब से एवं पूर्वी देशों ने भी अपनी अपनी परिकल्पनाओं को साकार करने के एवज में अल्पावधि एवं दीर्घावधि योजनाएं चलाकर उत्पादन के साधनों एवं वितरण की प्रणालियों को विकास की दृष्टि से सांझा करने की कोशिश करते हुए एडम स्मिथ, रिकार्डो, मिल, मार्क्स, हॉब्सन, बेव्लेन, कीन्स, बर्नहम एवं शुंपीटर आदि अर्थशास्त्रियों के सिद्धांतों को प्रेरणास्वरूप कार्यान्वयन किया है।

भिन्न–भिन्न योजनाओं पर भारी–भरकम पैसा खर्च कर लेने के बावजूद भी विकास की गति नगण्य रहने के पीछे नीतियों का सही तरीके से कार्यान्वयन न होना भी कारण हो सकता है, जो एक विवेकशील एवं पारदर्शी अर्थनीति की आवश्यकता की तरफ ध्यान आकर्षित करता है। किसी भी देश के सभ्य समाज को ऐसी नीति कतई बर्दाश्त नहीं होगी जहां गरीबी एवं अमीरी के बीच की खाई बहुत ज्यादा हो। शरत अनंत कुलकर्णी लिखते हैं कि पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी कहा करते थे कि "स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व हम हर प्रश्न की और राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखा करते थे, अब हम प्रत्येक प्रश्न की और केवल आर्थिक दृष्टिकोण से देखने लगे हैं। कारण, साध्य और साधन का विवेक ही शेष नहीं रहा है। पैसा अर्जित करना जीवन की एक महत्वपूर्ण बात न रहकर उस प्रश्न से हमारा सारा जीवन भाप लिया है। पैसा प्राप्त करने के परे भी जीवन में अधिक महत्वपूर्ण कुछ होता है। इसका बोध ही हमारे मानस से समूल नष्ट हो गया है।[1]

मानव का सर्वांगीण विकास ही किसी देश की अर्थव्यवस्था की कसौटी होती है। मानवीय शक्ति को प्रमुख साधन के रूप में प्रयोग करते हुए मानव का सुख ही आर्थिक नीति का प्रमुख साधन हो तो मानव की

* सहायक प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला, हिमाचल प्रदेश।

1 शरद अनन्त कुलकर्णी, 'पंडित दीन दयाल उपाध्याय विचार–दर्शन खंड 4 एकात्म अर्थनीति' सुरुचि प्रकाशन, केशव कुञ्ज, झंडेवाला, नयी दिल्ली, 1987, पृ. 15

शक्ति बेकार न होकर विकास का कारण बनती है। अतः हर राष्ट्र का उत्पादन तंत्र इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर ही निर्मित किया जाना चाहिए, अथवा देश में अर्थव्यवस्था समृद्धि तो बढ़ाती है परंतु साथ–साथ यही व्यवस्था समाज की एक बड़ी आबादी के विकास को कुंठित करके रख देती है जो कदापि कल्याणकारी नहीं हो सकती। अतः हर राष्ट्र को चाहिए कि वह ऐसी व्यवस्थाएं एवं संस्थाएं स्थापित करे जिनके माध्यम से अर्थ का उत्पादन, वितरण और उपयोग में संतुलन स्थापित किया जा सके। यह शासक का एक महत्वपूर्ण दायित्व होता है कि वह नियोजन, निर्देशन, नियमन एवं नियंत्रण के लोकतांत्रिक तरीके से विकेंद्रीकरण करते हुए देश को समसामयिक विकास की ओर अग्रसर करे। अर्थायाम के लिए विशेष परिस्थिति में भारी एवं मूलभूत का स्वामित्व एवं व्यवस्थापन का दायित्व भी शासन को ही स्वीकार करना पड़ता है।"[1]

स्वतंत्रता हर एक की स्वभाविक आकांक्षा होती है। फिर चाहे वह मानव हो या एक राष्ट्र इसके लिए आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं मानसिक सभी रूपों में जनतंत्र का उपस्थित होना स्वभाविक रूप से आवश्यक हो जाता है। जहां समाज का प्रत्येक व्यक्ति व्यापक समष्टि–हित के लिए कोई हानि न पहुंचाते हुए अपनी आवश्यकतानुसार उत्पादन एवं उपभोग कर सकता हो तो हम कह सकते हैं कि उस शासन प्रणाली में आर्थिक स्वतंत्रता स्थापित है। इसी प्रकार जो समाज अन्य के हितों में बाधक न बनकर एक पोषण का कारण हो वह समाज स्वतंत्र समाज होता है। जिस व्यवस्था में एक और सबके स्वभाविक हितों में शासन कोई मतभेद न करके एक सब के लिए एवं सब एक के लिए वाला भाव हो वही समाज राजनीतिक स्वतंत्रता वाला समाज हो सकता है और जिस समाज में भय एवं अपेक्षा रहित वातावरण हो और मानव स्वतंत्रता से अपने नैतिक मूल्यों का निर्वहन कर सके उसी समाज में मानसिक स्वतंत्रता हो सकती है। शरद अनंत कुलकर्णी लिखते हैं कि दीनदयाल जी कहा करते थे कि "विशालकाय यंत्र–सामग्री का मोह जिन लोगों को हो गया है, उनके विचार में आर्थिक स्वतंत्रता का अर्थ असीम उत्पादन–वृद्धि मात्र होता है। किंतु यह दृष्टिकोण एकांगी एवं हानिकर है। हमें ऐसी सावधानी बरतनी चाहिए कि एक की स्वतंत्रता के कारण दूसरे की स्वतंत्रता का हरण न हो।"[2]

दत्तोपंत ठेंगड़ी ठाणे में 1973 में हुए भाषण में दीनदयाल जी के विचारों की सर्वोच्च अभिव्यक्ति का संकलन करते हुए लिखते हैं कि, गुरु जी का विचार था कि "प्रत्येक नागरिक की जीवन विषयक प्राथमिक आवश्यकताओं को पूर्ण करना ही होगा। लाखों लोग भूख से पीड़ित हो तब अभद्र तड़क–भड़क और व्यर्थ का व्यय करना पाप है। सभी भोगों का न्यायोचित निर्बंध होने चाहिए। 'उपभोक्तावाद' हिंदू संस्कृति के आदर्शों के अनुरूप नहीं है ।"[3]

किसी भी राष्ट्र के लिए वह व्यवस्था महत्वपूर्ण होती है जहां अधिक से अधिक उत्पादन के साथ–साथ न्यायोचित वितरण का उद्देश्य हो। राष्ट्रीय स्वाबलंबन को एक लक्ष्य के रूप में रखा गया हो, समाज में किसी भी स्तर पर समस्या यदि उत्पन्न होती है तो उसका समाधान युद्ध स्तर पर किया जाए और उत्पादन के साधनों एवं प्रकृति का दोहन मानव की आवश्यकताओं के अनुसार भविष्य में होने वाले परिणामों को ध्यान में रखकर किया जाए और वस्तुओं एवं उत्पादन का उपभोग केवल आवश्यकता के अनुसार ही हो न कि लालच या विलासिता के आधार पर। "इन सब के लिए पर्यावरणशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र का समग्र विकास आवश्यक है टुकड़ों में नहीं।"[4] परंपरागत प्रविधियों में समय के साथ–साथ आधुनिक परिवर्तन भी आवश्यक होते हैं। अतः समयानुसार इसमें परिवर्तन करना स्वभाविक होता है। मूल उद्देश्य यह होना चाहिए कि उपलब्ध साधन एवं स्त्रोत भी बेकार ना जाए एवं कामगारों में भी बेरोजगारी एवं बेकारी न बढ़े इसके लिए बड़े–बड़े उद्योगों के साथ साथ कुटीर उद्योगों का भी समान रूप से विकास किया जाना चाहिए।

---

1 यथोपरी, पृ. 19

2 यथोपरी, पृ. 21

3 दत्तोपन्त ठेंगड़ी, 'पंडित दीन दयाल उपाध्याय विचार–दर्शन, खंड 1 तत्व जिज्ञासा', सुरुचि प्रकाशन, केशव कुञ्ज, झंडेवाला, नई दिल्ली, 1986, पृ. 114

4 यथोपरी पृ. 115

पंडित दीनदयाल जी कहते थे, "भौतिक सुखों का असीम उपभोग तथा राजनीतिक सत्ता का निरंकुश प्रयोग दोनों व्यक्ति एवं समष्टि के मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक अवनति का कारण बन जाते हैं। अर्थसत्ता एवं राजनीतिक सत्ता जहां हाथ मिला कर चलती है वहां अवनति भयंकर रूप धारण कर सकती है।"[1] प्रत्येक राष्ट्र को उत्पादन प्रक्रिया का विकेंद्रीकरण करते हुए स्वदेशी तंत्र ज्ञान को प्रोत्साहन देना चाहिए और कामगारों के लिए उचित व्यवस्था का वातावरण किया जाना चाहिए और उनके श्रम के मूल्य को पूंजी के अंश के रूप में आँका जाना चाहिए और उन्हें पूंजी लगाने वाले अंशधारकों की तरह ही रखा जाना चाहिए। 'राष्ट्रहित' उपभोक्ताओं के हित को ध्यान में रखकर ही निर्धारित किया जाना चाहिए। श्रम के अतिरिक्त मूल्य का स्वामी राष्ट्र है। औद्योगिक स्वामित्व को किसी सांचा बंद प्रकार से बंध जाना आवश्यक नहीं है। निजी उद्योग, राष्ट्रीयकरण, नगरीकरण, नगरपालिकाकरण, लोकतंत्रीकरण, स्वयं–नियोजन, स्व–रोजगार, संयुक्त उद्योग आदि अनेक प्रकार है।

प्रत्येक व्यावसायिक को अपने उद्योग की प्रकृति और राष्ट्रीय आवश्यकताओं को ध्यान में लेकर उसके स्वामित्व का प्रकार निर्धारित करना होगा ताकि एक व्यक्ति से लेकर संपूर्ण राष्ट्र तक की सुख की अभिव्यक्ति को आत्मसात कर के संपादित किया जा सके एवं स्व से लेकर राष्ट्र तक में तादात्म्य हो सके। इसी विचार को लेखक विनायक वासुदेव नेने भी स्पष्ट किया है कि "एकात्म मानव दर्शन में सुख की कामना ऐसी एकांगी नहीं है।"[2] वह व्यक्ति का विचार समग्र समग्र दृष्टि से करता है और इतना ही नहीं अपितु मनुष्य के अंदर जो सत प्रवृत्तियां होती है उनका उन्नयन करता है, विकास करता है। इस दर्शन में सुख वर्जित नहीं है यदि कुछ वर्जित है तो वह है व्यक्ति और समाज के पतन का कारण बनने वाली सुखलोलुपता। अतः अर्थनीति ऐसी होनी चाहिए ताकि न तो अर्थ के अभाव के कारण और ना ही उसके अत्यधिक प्रभाव के कारण समाज में विकृति उत्पन्न हो। इसके लिए किसी भी राष्ट्र को यह आवश्यक होता है कि वह अपने कार्य क्षेत्र में सामाजिक एवं राजनीतिक पुनर्रचना करते हुए आर्थिक पुनर्रचना भी करें। भालचंद्र कृष्णा जी केलकर लिखते हैं, "दीनदयाल जी ने भारत की अर्थनीति के लिए स्वदेशी, विकेंद्रीकरण, संरक्षण तथा विकास का संयुक्त विचार और विदेशी ऋणों से मुक्ति एवं आर्थिक आत्मनिर्भरता की पांच अवधारणाएं जनसंघ के माध्यम से भारत के सम्मुख रखने का प्रयास किया है ।"[3]

किसी भी राष्ट्र के विकास के लिए खेती को उन्नत करना भी उतना ही आवश्यक होता है जितना कि उद्योगों को। इसी के साथ परिवहन, व्यापार एवं सामाजिक सुरक्षा और सेवा का क्रम भी एक जुड़ाव के रूप में विकसित होना आवश्यक होता है। किसी भी राष्ट्र को तुरंत औद्योगिकीकरण की राह पर न चलकर खेती का विचार श्रेयस्कर होता है और समय के साथ–साथ आधुनिकता के तरीकों को अपनाकर राष्ट्र के विकास के मार्ग पर लाया जा सकता है। जब कोई राष्ट्र सही नियोजन करके प्रकृति की सामान्य परिस्थितियों के अनुकूल उत्पादन करता है तो उसका स्वाबलंबी होना अवश्यंभावी हो सकता है परंतु वही राष्ट्र जब उद्योगों का अंधाधुंध अनुकरण करता हुआ खेती की उपेक्षा करता है तो उसमें न केवल खेती पिछड़ती है अपितु स्वाबलंबन का किला भी ढह जाता है। बहुत कम पूंजी निवेश में रोजगार देने की क्षमता केवल कृषि उद्योगों में ही हो सकती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि व्यवस्थापिका द्वारा कृषि के विकास के लिए कारगर कदम उठाए जाएं और कृषि से जुड़ी हर व्यवस्था का फिर चाहे वह पशुधन हो या काम आने वाले यंत्र शक्ति या मानव शक्ति, सभी का यथोचित सहयोग लिया जाए और इससे जुड़ी हर प्रकार की समस्याओं का तुरंत निराकरण कर लिया जाए। कृषि उपज के मूल्यों में संतुलन रखा जाना चाहिए और इसके साथ ही बड़े एवं छोटे उद्योगों को उनके कार्य क्षेत्र एवं गुण–दोष के आधार पर स्थापित किया जाना चाहिए तथा लघु एवं कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन दिया

---

1 शरद अनन्त कुलकर्णी, 'पंडित दीन दयाल उपाध्याय विचार–दर्शन खंड 4 एकात्म अर्थनीति' सुरुचि प्रकाशन, केशव कुञ्ज, झंडेवाला, नयी दिल्ली, 1987, पृष्ठ 22

2 विनायक वासुदेव नेने, पंडित दीन दयाल उपाध्याय विचार–दर्शन खंड 2 एकात्म माणाव दर्शन, सुरुचि प्रकाशन, केशव कुञ्ज, झंडेवाला, नई दिल्ली, 1990, पृ. 37

3 भालचंद्र कृष्णाजी केलकर, पंडित दीं दयाल उपाध्याय, विचार दर्शन खंड 3, राजनितिक चिंतन, सुरुचि प्रकाशन, केशव कुञ्ज झंडेवाला, नई दिल्ली,1990 पृ. 108

जाना चाहिए। उद्योगों का खेती से प्रत्यक्ष एवं निकट संबंध स्थापित किया जाए ताकि अधिकतर लोगों को जीविकोपार्जन के साधन उपलब्ध हो सके। परंपरागत उद्योगों में परिस्थितिवश निर्मित हुए दोषों एवं अनुभव की गई त्रुटियों को दूर करके उन्हें आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ किया जाना बहुत आवश्यक होता है। इसके लिए औद्योगिक विकास की कृषि एवं श्रम प्रधान उत्पादन प्रणाली का होना बहुत आवश्यक है।

किसी भी राष्ट्र के आर्थिक विकास के लिए पूंजी एक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में काम करती है जिसके निर्माण के लिए उत्पादन एवं उपभोग में समुचित अंतर रखकर बचत करने की आवश्यकता होती है। उत्पादक रीति से ही उत्पादन किया जाना चाहिए। अतः मुद्रा–नीति एवं अर्थसंकल्पीय नीति का राष्ट्र की योजना में समावेश अति महत्वपूर्ण है। राष्ट्र के हितों को ध्यान में रखकर ही विदेश नीति का निर्माण करना चाहिए। बलवंत नारायण जोग लिखते हैं, पंडित दीनदयाल जी ने अपनी विदेश नीति के सूत्र की प्रारम्भ में ही घोषणा कर दी थी। "उनके अनुसार एक बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए की विदेश नीति भी अंततः एक नीति ही होती है। वह कोई सिद्धांत नहीं होता, राष्ट्र के हितों की रक्षा तथा पोषण के निष्कर्षों पर ही इस नीति का निर्धारण करना चाहिए।"[1] किसी भी देश की विदेश नीति का उद्देश्य सैनिक दृष्टि से विश्वविजेता और विशाल राजनीतिक क्षमता निर्मित करने का लक्ष्य कदापि नहीं होना चाहिए। अपितु आत्म–दर्शन एवं उस से जुड़ी रचनाओं, व्यवस्थाओं, क्रियाकलापों, कलाओं एवं विद्या के आधार पर सर्वजन हितायः सर्वजन सुखायः वाला भाव ही आधार हो। किसी भी राष्ट्र को चाहिए कि वह अपनी दुर्बलता समाप्त करने के लिए आंतरिक एकता का साक्षात्कार करे और बाह्य विविधताओं के भ्रामक अभिनिवेश के कारण बुद्धि पर आया विलगता एवं संकीर्णता का पटल दूर करे। अंतः करण में शुद्धता एवं श्रद्धा का भाव लाकर सभी विविधताओं में समन्वय स्थापित करके अलगाववाद से होने वाली हानियों से बचा जा सकता है। इसके लिए आवश्यकता होती है आंतरिक चेतना के आधार पर सभी व्यवहारों की रचना करने की, अपने–अपने कार्यक्षेत्र में समुचित पद्धति द्वारा अनुशासन पूर्वक कार्य करने की एवं भेदभाव रहित विचारों को सुदृढ़ करने की। राष्ट्रहित की सर्वोपरि समझ पैदा करने वाले भाव की ताकि विश्व–मानव समाज का राष्ट्र नामक घटक सदैव बना रहे। अंतरराष्ट्रीय शांति को चिरस्थाई बनाने के लिए स्वार्थपूर्ण उदेश्यों को त्याग कर मानवता का विकास ही किसी संस्था का मूल उद्देश्य होना चाहिए। शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक क्षमता के अनुरुप जिसकी जैसी योग्यता एवं क्षमता हो वैसा ही वातावरण व्यवस्थित करके विकास के मार्ग प्रशस्त हों ताकि एक व्यक्ति से आरंभ होकर परिवार, समाज तथा राष्ट्र तक का मंडल आभामान हो। ऐसी व्यवस्था में व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र के प्रति निष्ठावान होकर उसका अहम मैं से हम की राष्ट्रीय भावना में परिवर्तित हो जाता है। "व्यक्ति एवं समस्त मानवता की आत्मिक समानता के मन पर अंकित सूत्र के कारण ही विश्व बंधुत्व की भावना जीवित हो जाती है ।"[2]

प्रत्येक व्यक्ति को अन्य लोगों की तुलना में अनुकूल बनने के लिए स्वयं समर्थ एवं सक्षम बनना पड़ता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अपने कार्यों के लिए दूसरों पर निर्भर रहे अपितु अपने पुरुषार्थ को सिद्ध करते हुए अपनी शक्तियों का प्रयोग दूसरों के कल्याण की भावना से करते हुए निरंतर विकास के मार्ग पर अग्रसर होता रहे। अतः अर्थनीति में भी सभी व्यवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए ही योजनाओं का निर्माण हो। शरद अनंत कुलकर्णी प्रोफ़ेसर गार्नर मिर्डल के शब्दों को इस तरह वर्णित करते हैं "अर्थशास्त्रियों द्वारा निरूपित्त उत्पादन के घटकों के गुणधर्म के साथ आर्थिकेत्तर घटकों का पर्याप्त संबंध रहता है। इसलिए आर्थिक घटकों के साथ आर्थिकेत्तर घटकों का भी विचार करने वाले अर्थशास्त्र को हमें विकसित करना होगा ।"[3]

---

1 बलवंत नारायण जोग, पंडित दीन दयाल उपाध्याय, विचार–दर्शन खंड 6, राजनीति राष्ट्र के लिए, सुरुचि प्रकाशन, केशव कुञ्ज, झंडेवाला, नई दिल्ली, 1991, पृ. 47

2 चंद्रशेखर परमानंद भिषिकर, पंडित दीन दयालउपाध्याय, विचार–दर्शन खंड 4, राष्ट्र की अवधारणा, सुरुची प्रकाशन, केशव कुञ्ज, झंडेवाला नई दिल्ली, 1991, पृ 112

3 शरद अनन्त कुलकर्णी, 'पंडित दीन दयाल उपाध्याय विचार–दर्शन खंड 4 एकात्म अर्थनीति' सुरुचि प्रकाशन, केशव कुञ्ज, झंडेवाला, नयी दिल्ली, 1987, पृष्ठ 13

कोई भी राष्ट्र जो अभी विकास के पथ पर अग्रसर है और निर्धन की श्रेणी में है उसे अंधाधुन्ध पूँजी की मात्रा के लोभ में विदेशी शक्तियों के अधीन न जाकर स्वयं की संयमित उपभोग, ऐसा व्यय जो उत्पादक न हो, सार्वजनिक व्यय पर अंकुश, शासन के खर्चों में बचत एवं उत्पादन करने वाले कार्यों को प्राथमिकता देनी चाहिए। इसके लिए धन संपन्न लोगों तथा शासन कर्ताओं को अपने रहन–सहन एवं आदर्श को सम्मुख रखकर सर्वमान्य जनता को बचत एवं विकास की प्रेरणा देनी चाहिए। देश के नीतिकारों और स्मृतिकारों को ऐसी नीतियों का निर्माण प्राथमिकता के आधार पर अल्पावधि और दीर्घावधि नियोजन द्वारा करना चाहिए। ऐसी आर्थिक नीति का अनुपालन करना चाहिए जो राष्ट्रत्व की भावना का पोषक हो क्योंकि राष्ट्रत्व का अस्तित्व ही स्वाभिमान का हेतु बनता है। भारतीय संस्कृति इस दिशा में एकात्मवादी है जो जीवन के विभिन्न अंगों में सृष्टि की विभिन्न सत्ताओं के भेद को आदर सहित स्वीकार कर के अंतर में एकता की खोज करके उसमें सामंजस्य स्थापित करती है। उसका दृष्टिकोण सर्वांगीण होता है जो वर्गवादी या सांप्रदायिक न होकर सर्वोत्कर्षवादी होकर एकात्मवाद को आत्मसात करता है। ऐसी दृष्टि व्यष्टि और समष्टि के बीच के संघर्ष की कल्पना न करके व्यक्ति को अदृश्य समष्टि का ही प्रतिनिधि व्यक्त करता है। यह इस बात पर भी जोर देता है कि व्यक्ति में ही समष्टि की पूर्णता परिलक्षित होती है। सर्वांगीण विकास ही व्यक्ति को समाज हित में कार्य करने की प्रेरणा का सूचक बनाता है। इसके विपरीत "अर्थ की साधनता को भुलाकर उसमें आसक्ति, अर्थ से धर्मानुकूल कामोपभोग की इच्छा का, ज्ञान का और शक्ति का अभाव, अर्थ का अनुचित गौरव, समाज में आर्थिक विषमता, मुद्रा का अधिक्य एवं अवमूल्यन वे कारण है जिनसे अर्थ का प्रभाव उत्पन होता ह । अर्थ का प्रभाव मानव की कर्म शक्ति को कुंठित कर अर्थ और श्री के ह्रास का कारण बनता है।"[1] अतः राष्ट्र की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक उन्नति के लिए उचित और समयानुकूल नियोजन की आवश्यकता होती है। प्रत्येक राष्ट्र की नीति का निर्माण उसकी ऐतिहासिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार किया जाना दीर्घकाल तक उपयोगी होता है और यही अर्थशास्त्र का सिद्धांत भी है कि साध्य एवं साधनों का तात्कालिक एवं दूरगामी परिणामों का विश्लेषण करके ही नियोजन किया जाए और प्रसंगानुसार उसके सुधार के लिए उपाय किए जाए। उचित शासन के माध्यम से ही मुद्रा, मूल्य उत्पादन, वितरण, एवं वेतन विषयक नीति पर नियंत्रण रख कर अर्थव्यवस्था का सुचारु रुप से संचालन किया जा सकता है।

अतः नियोजन का प्रभावी होना नितांत आवश्यक है और सरकार को बहुत थोड़े एवं अपरिहार्य बड़े उद्योग ही चलाने चाहिए और विकेंद्रीकरण एवं स्वदेशी के विचार को सार्थक दिशा में लाने का प्रयास करना चाहिए। सरकार संयोजन के द्वारा अर्थव्यवस्था को गति प्रदान करे और स्वयं इसका बहुत बड़ा भाग न बने। वह संपूर्ण जनता के सहयोग से ही संभव हो सकता है। आर्थिक नियोजन गाँव से प्रारम्भ होकर धीरे–धीरे केंद्र तक पहुंचना चाहिए और स्वदेशी को आधार मानकर उसका अनुसरण करना चाहिए। शरत अनंत कुलकर्णी स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि "दीनदयाल जी के विचार में किसी भी नियोजन प्रणाली में जनता के स्थान को सरकार छीन न ले। यह स्थान शासन अपने हाथ में ले लेता है तो कार्य क्षमता, सृजनशीलता तथा भगीरथ–प्रयास करने की सद्भावना तथा सद्गुणों का धीरे–धीरे जनता से लोप होने लगता है। इसमें आर्थिक विकास एवं प्रभावी स्वतंत्रता को ग्रहण लग जाता है। आर्थिक व्यय के साथ ही प्रत्यक्ष रुप में कितना काम बन पड़ा है इसका मूल्यांकन करने की व्यवस्था भी हमारे पास होनी चाहिए। ऐसी व्यवस्था में सार्वजनिक एवं निजी दोनों क्षेत्रों की उपलब्धियों का आकलन किया जाना चाहिए। प्रत्यक्ष कार्य एवं आर्थिक नियोजन के लक्ष्य क्या हों इसे दृढ़तापूर्वक प्रस्तावित करना चाहिए।"[2] सभी राष्ट्र उपरोक्त बातों को ध्यान में रखते हुए उत्पादन और वितरण की व्यस्था को उचित नियोजन के माध्यम से कार्यान्वित करें तो राष्ट्र निश्चित ही विकास के मार्ग पर प्रशस्त हो सकता है।

♦❐♦

1 विश्वनाथ नारायण देवधर, पंडित दीन दयाल उपाध्याय खंड 7, व्यक्ति–दर्शन, सुरुचि प्रकाशन, केशव कुञ्ज, झंडेवाला, नयी दिल्ली, 1991, पृष्ठ 63

2 शरद अनन्त कुलकर्णी, एकात्म अर्थनीति' सुरुचि प्रकाशन, केशव कुञ्ज, झंडेवाला, नयी दिल्ली, 1987, पृष्ठ 102,103,104